शैक्षिक परिदृश्य में स्वामी विवेकानन्द

डॉ0 मान सिंह*

आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति के समर्थक विदेशों में भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का घोर निनाद करने वाले प्रथमयुग महापुरूष का प्रादुर्भाव, 12जनवरी, सन् 1863 ई0 पौष संक्रान्ति का पुण्य प्रभात जब कुहरे से ढका हुआ था, शीत से ठिठुरते हुए नर–नारियों के दल मकर सप्तमी के स्नान के लिए भागीरथी की ओर जा रहे थे, इसी समय सूर्योदय से छः मिनट पूर्व छः बजकर तैंतीस मिनट तैंतीस सेकण्ड पर भुवनेश्वरी देवी ने विश्व विजयी पुत्र को जन्म दिया। आनन्दोल्लास ओर हर्ष कोलाहल से दत्त भवन मुखरित हो उठा। नारीगण मंगल–शंख बजाकर मांगलिक ध्वनि करने लगी। बंगाल के घर–घर में पौष पर्व का आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था, दत्त गृह आनन्द से भर गया। मंगल वाद्य बज उठे तथा बंग भूमि का प्रत्येक गृह प्रांगण मुखरित हो उठा। धीरे–धीरे नामकरण का दिन आया। बालक की आकृति बहुत कुछ उसके सन्यासी पितामह की तरह देख परिवार के कुछ लोगों ने शिशु का नाम 'दुर्गादास' रखने की इच्छा प्रकट की, परन्तु माता ने अपने स्वप्न का अनुसरण कर कहा कि उसका नाम 'वीरेश्वर' रखा जाय, क्योंकि इनकी माता भुवनेश्वरी को विश्वास था कि इस पुत्र रत्न की प्राप्ति काशी विश्वनाथ की अहैतूकी कृपा से हुई है। आत्मीय जन उस नाम को संक्षिप्त बनाकर 'बिले' कहकर पुकारते थे। अन्त में शुभ अन्न प्राशन के समय बालक का नाम नरेन्द्रनाथ रखा गया। प्रत्येक हिन्दू सनातन के 2 नाम होते हैं, **एक राशि नाम और दूसरा जन साधारण में प्रचलित नाम।** इसलिए भविष्य में यह शिशु 'नरेन्द्रनाथ' नाम से ही सर्वसाधारण में परिचित हुआ। उनमें अत्यधिक प्रतिभा थी, जो कुछ एक बार पढ़ लेते थे वह उन्हे सदा के लिए स्मरण हो जाता था। महावीर हनुमान उनके आदर्श थे।[1]

नरेन्द्र के पिता श्री विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट में मुख्तार के रूप में कार्यरत थे उन्हें धार्मिक संगीत एवं साहित्य से अत्यधिक प्रेम था। उनके इस भाव का भी प्रभाव नरेन्द्र के जीवन की गहराई में उतरता रहा और वे भी संगीत एवं धार्मिक साहित्य, अश्वारोहण तथा तैराकी में रूचि लेने लगे तथा सिद्धहस्तता प्राप्त की। 5 वर्ष की आयु पूरी होते–होते नरेन्द्र के व्यक्तित्व की कई प्रमुख विशेषतायें प्रकाश में आने लगी जैसे– श्रमशील खेल, पशु–पक्षी प्रेम, ध्यान निमग्नता, साधु सत्संग इत्यादि। छः वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र को अध्ययन हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया गया। वे कक्षा में पढ़ाई में अग्रसर रहते हुए घर पर संस्कृत व्याकरण एवं रामायण, महाभारत के उदाहरण कण्ठस्थ कर लेते। उनकी प्रतिभा को देखकर सभी शिक्षक आश्चर्य चकित हो जाते थे।

सात वर्ष की अवस्था प्राप्त करते–करते नरेन्द्र के मन में निर्भीकता के साथ–साथ स्वतन्त्रता का भी भाव विकसित हो गया। एकदिन एक शिक्षक एक बालक को बुरी तरह पीटना आरम्भ किया तो उन्होंने उनका विरोध किया, पर क्रोध में आकर शिक्षक महोदय ने उन्हे भी पीट दिया। संयोगवश विद्यालय के प्रबन्धक श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर भी उपस्थित थे। अतः नरेन्द्र ने उनके पास जाकर अपना निवेदन प्रस्तुत किया। परिणाम यह हुआ कि प्रबन्धक के आदेश से उस विद्यालय में शारीरिक दण्ड सदा के लिए बन्द कर दिया गया।

11–12 वर्ष की आयु में नरेन्द्र में मौलिक परिवर्तन आया, उनका ध्यान अध्ययन की ओर लगने लगा। फलतः दैनिक समाचार पत्र, पुस्तकें तथा पत्रिकायें पढ़ना उनका प्रतिदिन का कार्य हो गया। हाईस्कूल पास करने के बाद नरेन्द्रनाथ एक वर्ष तक प्रेसीडेंसी कालेज में अध्ययन किये और बाद में **'जनरल एसेम्बलीज़ इंस्टीट्यूशन'** में प्रवेश लिये। यहाँ उन्हे साहित्य धर्म एवं दर्शन का गहन अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस कालेज के प्रिन्सिपल प्रो0 हेस्टी ने नरेन्द्र के विचारों से प्रभावित होकर उनके सम्बन्ध में कहा था–

''नरेन्द्र वास्तव में प्रतिभाशाली हैं, मैंने दूर–दूर तक भ्रमण किया है, किन्तु मुझे इस लड़के के समान कहीं भी प्रतिभा दिखायी नहीं पड़ी, यहाँ तक कि **जर्मनी विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के**

*असि0 प्रो0 (शिक्षाशास्त्र) ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद

विद्यार्थियों में भी नहीं, वह अवश्य ही अपने जीवन को अमर बनायेगा।'' विद्यालयीय जीवन समाप्त होते–होते उनके मानस में सत्य की खोज की जिज्ञासा प्रबल हिलोरें लेने लगी। अन्ततः सत्य के खोज की व्याकुलता नरेन्द्र को पैदल ही रामकृष्ण परमहंस के पास घसीट लाई।

दक्षिणेश्वर में स्थित माँ काली जी के मन्दिर के सामने बैठे श्री रामकृष्ण परमहंस को देखते ही उन्हें अलौकिक अनुभूति हुई। परमहंस जी ने भी अपने उस भावी उत्तराधिकारी को पाया जिसके लिए वे चिरकाल से प्रतीक्षारत थे। अवसर मिलते ही नरेन्द्र ने प्रश्न किया–

''महानुभाव! क्या आपने ईश्वर को देखा है?'' हाँ मैने उन्हें देखा है, ठीक ऐसे ही जैसे तुम्हें देख रहा हूँ। बल्कि तुमसे भी अधिक स्पष्ट और प्रगाढ़ रूप है।'' इस उत्तर से उन्हें राहत हुई, तथा आध्यत्मिक जीवन का श्रीगणेश यहीं से प्रकाश में आने लगा। इसी बीच श्री राम कृष्ण ने नरेन्द्र नाथ के साथ 10 शिष्यों को दीक्षित किया और अपना उत्तराधिकार नरेन्द्रनाथ को सौंप दिया, तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति नरेन्द्र को दे दिया और कहा – ''आज अपना सब तुम्हें देकर मैं रंक बन गया हूँ मैने योग द्वारा जिस शक्ति को तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट किया है, उससे तुम अपने जीवन में महान कार्य करोगे। अपने इस कार्य को पूर्ण करने के बाद ही तुम वहाँ जाओगे जहाँ से आये हो।'' श्री रामकृष्ण देव 15 अगस्त सन् 1886 दिन रविवार को महासमाधि में लीन हो गये। इसके पश्चात् वराह नगर में नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में रामकृष्ण संघ की स्थापना हुई। अतः अपने सभी गुरू भाईयों के साथ सन् 1886 ई0 में आंतपुर नामक स्थान पर अग्नि के चारों ओर बैठकर सन्यास का संकल्प लिया। सन् 1890 के बाद से नरेन्द्रनाथ एकांकी एवं अज्ञात साधु के रूप में भ्रमण में जाने लगे।[2]

भारत भ्रमण के दौरान जब वे हैदराबाद में थे तो महाराजा खेतड़ी ने उन्हें पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में एक निमन्त्रण पत्र दिया। महाराज अजीत सिंह स्वामी जी के अनन्य भक्त थे। अतः उनका वहाँ पहुँचना अतिआवश्यक था। पत्र पाते ही स्वामी जी रवाना हुए। खेतड़ी पहुँचते ही उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया तथा अमेरिका (शिकागो) जाने के खर्च का भी आश्वासन स्वामी जी को मिल गया। अत्यधिक यात्रा से स्वामी जी कुछ अस्वस्थ हो गये थे। धूप तथा धूल से बचने के लिए खेतड़ी नरेश ने स्वामी जी को पगड़ी धारण करने की सलाह दी। इन्हीं के प्रस्ताव पर स्वामी जी ने अपना नाम ''विवेकानन्द'' रखे जाने की स्वीकृति दे दी।

शिकागो पहुँचने पर स्वामी जी को यह मालूम हुआ कि विश्व धर्म सम्मेलन अभी नहीं सितम्बर माह में होने जा रहा है। यह शहर सामान्य लोगों के रहने के लिए मंहगा था, अतः वे बोस्टन शहर जो अपेक्षाकृत कम मंहगा था, रेल पथ द्वारा लौट आये। रेल पथ यात्रा के दौरान **स्वामी जी का परिचय मिस कैथरीन सन् वार्न से हुआ** जो आगे चलकर स्वामी जो को प्रथम स्तम्भ के रूप में सहायक हुआ। इस महिला ने उनका परिचय प्रो0 हेनरी राइट से करवाया। प्रो0 राइट ही विश्व धर्म सम्मेलन आयोजित करने वालों में से प्रमुख थे।[3]

अतः यहीं पर तुलसीदास की यह उक्ति याद आती है –

तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिले सहाय,
जाप न आवे ताहि पर, ताहि तहाँ लै जाय।

प्रो0 राइट ने एक परिचय पत्र विश्व धर्म सम्मेलन के सभापित के नाम लिखा, जिसमें स्वामी जी की विद्वता के सम्बन्ध में वर्णित है –

''यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने यहाँ के सारे विद्वान प्राध्यापकों की इकट्ठी विद्वता से भी कहीं अधिक विद्वान है।''

11 सितम्बर 1893 ई0 को शिकागो के नवनिर्मित ''आर्ट इस्टीट्यूट'' में अपने इष्टदेव को मन–ही–मन स्मरण एवं प्रणाम कर अपना व्याख्यान अंग्रेजी में आरम्भ किया–

''अमेरिका वासी बहनों तथा भाईयों।''

इस वाक्य का स्वागत वहाँ पर उपस्थित सभी श्रोताओं ने तालियों की गड़गड़ाहट से किया। स्वामी जी ने भारत की जनता की ओर से अमेरिका वासियों को धन्यवाद दिया। अमेरिका के सभी प्रमुख पत्रों ने स्वाजी जी को सर्वश्रेष्ठ एवं महानतम् वक्ता के रूप में वर्णित किया। इस विश्व धर्म सम्मेलन में

स्वामी जी के जितने भाषण हुए डा0 सरयू प्रसाद चौबे के मतानुसार ''विवेकानन्द एक आदर्श समाज में भारतीय आध्यात्मवाद और यूरोप तथा अमेरिका की सांसारिक प्रवृत्ति का समन्वय करना चाहते थे।''[4]

स्वामी जी के भाषण– मैडिसन, पोलिस, आयोबा बोस्टन, वाशिंगटन तथा न्यूयार्क में हुए। इनके भाषण से हिन्दू धर्म की विजय पताका पाश्चात्य देशों में फहराने लगी। स्वामी के आदर्शों से प्रभावित होकर शिक्षित लोग उनके कार्य में सहायता करने के लिए सन्यासी हो गये। अपनी उन्नति एवं विकास के कारण गर्वीले अमेरिका वासी पागलों की भाँति स्वामी जी के पीछे–पीछे घूम रहे थे। सारा अमेरिका उनके चरणों पर लोट गया। उन्होंने युवकों को संदेश दिया कि हमें मात्र भूमि की पूजा करनी चाहिए। उनकी सभा में युवक ऐसे जमते थे कि उठने का नाम ही न लेते। ''उन्होंने अपने देश के नवयुवकों को सन्देश देते हुए कहा कि यदि इस पृथ्वी पर कोई ऐसा देश है जो मंगलमयी पुण्य भूमि कहलाने का अधिकारी है, ऐसा देश जहाँ संसार के समस्त जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना है, ऐसा देश जहाँ ईश्वरोन्मुख प्रत्येक आत्मा को अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए पहुँचाना अनिवार्य है, ऐसा देश जहाँ मानवता ने ऋजुता, उदारता, शुचिता एवं शान्ति का चरम शिखर स्पर्श किया हो तथा इन सबसे आगे बढ़कर जो भी देश अन्तदृष्टि एवं आध्यात्मिकता का घर हो–तो वह देश भारत ही है।''[5]

शिक्षा का तत्व है जानना यानी प्रकट करना मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य में स्वभाव–सिद्ध है; कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता; सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थ में, मानसशास्त्र–संगत भाषा में, हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता' है, 'अनावृत' या 'प्रकट' करता है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है– मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरूत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में न्यूटन की राह देखते बैठा था? नहीं, वह उसके मन में ही था। जब समय आया, तो उसने उसे जान लिया या ढूँढ़ निकाला। संसार को जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह सब मन से ही निकाला है। विश्व का असीम ज्ञान भण्डार स्वयं तुम्हारे मन में है। बाहरी संसार तो एक सुझाव, एक प्रेरक मात्र है, जो तुम्हें अपने ही मन का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। अतः समस्त ज्ञान, चाहे वह लौकिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में है। बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है। और जब आवरण धीरे–धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हम सीख रहे हैं'। ज्यों–ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस पर यह आवरण तह–पर–तह पड़ा हुआ है, वह अज्ञानी है। जिस पर से यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है। चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि के समान, ज्ञान मन में निहित है और सुझाव या उद्दीपक–कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है। सभी ज्ञान और सभी शक्तियाँ भीतर हैं। हम जिन्हें शक्तियाँ, प्रकृति के रहस्य या बल कहते हैं, वे सब भीतर ही हैं। मनुष्य की आत्मा से ही सारा ज्ञान आता है। जो ज्ञान सनातन काल से मनुष्य के भीतर निहित है, उसी को वह बाहर प्रकट करता है, अपने भीतर देख पाता है।[6]

सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य 'मनुष्य' निर्माण ही हो। सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है। जिस प्रक्रिया से मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम है शिक्षा। आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु – दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो, फिर चाहे उसके लिए समुद्र–तल में ही क्यों न जाना पड़े–साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े। हम 'मनुष्य' बनाने वाला धर्म ही चाहते हैं। हम 'मनुष्य' बनाने वाला सिद्धान्त ही चाहते हैं। **हम सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में 'मनुष्य' बनाने वाली शिक्षा ही चाहते हैं।**

ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'। 'मन की एकाग्रता' ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है। ज्ञानार्जन के लिए निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी एक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। रासायनिक अपनी प्रयोगशाला में अपने मन की सारी

शक्तियों को एकाग्र करके एक ही केन्द्र में स्थिर करता है और तत्वों पर लगाता हैं– उससे तत्व विश्लेषित हो जाते हैं और उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ज्योतिषी अपने मन की शक्तियों को एकाग्र करके एक ही केन्द्र पर लाता है और दूरदर्शी यन्त्र के द्वारा उन्हें अपने विषयों पर लगाता है; बस त्योंही तारागण और ग्रहसमुदाय सामने चले आते हैं और अपना रहस्य उसके पास खोलकर रख देते हैं। **चाहे विद्वान, अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है, तो उसे उपयुक्त प्रथा से ही काम लेना पड़ेगा।**[7]

एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी। चर्मकार यदि अधिक एकाग्रचित होगा, तो जूता अधिक अच्छा साफ करेगा। रसोइया एकाग्रचित्त होने से अधिक अच्छा भोजन पकाएगा। पैसा कमाने में अथवा ईश्वर की आराधना करने में या और भी कोई कार्य करने में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतना ही अधिक अच्छा सम्पन्न होगा। यही एक खटखटाहट है, यही एक आघात् है, जो प्रकृति के द्वारों को खुला कर देता है और ज्ञानरूपी प्रकाश को बाहर फैलाता है।

एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के खजाने की एकमात्र कुंजी है। अपनी वर्तमान शारीरिक अवस्था में हम बड़े ही विक्षिप्त–चित्त हो रहे हैं। हमारा मन इस समय सैकड़ों ओर दौड़–दौड़कर अपनी शक्ति नष्ट कर रहा है। जब कभी मैं व्यर्थ की सब चिन्ताओं को छोड़कर ज्ञान–लाभ के उद्देश्य से मन को किसी विषय पर स्थिर करने का प्रयत्न करता हूँ, त्योंही मस्तिष्क में सहस्रों अवांछित भावनाएँ दौड़ आती हैं, हजारों चिन्ताएँ मन में एक साथ आकर उसको चंचल कर देती हैं। किस प्रकार से इन्हें रोककर मन को वश में लाया जाय, यही राजयोग का एकमात्र आलोच्य विषय है। **ध्यान का अभ्यास करने से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है।**

बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को शक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। वासनाओं को वश में कर लेने से उत्कृष्ट फल प्राप्त होते हैं। काम–शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणत कर लो। यह शक्ति जितनी ही प्रबल होगी, उससे उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा। जल का शक्तिशाली प्रवाह ही द्रवचालित खनन–यन्त्र को चला सकता है। इस ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण हमारे देश में प्रत्येक वस्तु नष्टप्राय हो रही है। कड़े ब्रह्मचर्य के पालन से कोई भी विद्या अल्पकाल में ही अवगत की जा सकती है, एक ही बार सुनी या जानी हुई बात को याद रखने की अचूक स्मृति–शक्ति आ जाती है। ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रबल कार्यशक्ति और अमोघ इच्छाशक्ति रहती है। पावित्रय के बिना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती। ब्रह्मचर्य द्वारा मानवजाति पर अद्भुत प्रभुता प्राप्त होती हे। आध्यात्मिक नेतागण अखण्ड ब्रह्मचारी रहे हैं और इसी से उन्हें शक्ति प्राप्त हुई थी।

प्रत्येक बालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने की शिक्षा देनी चाहिए। तभी उसमें श्रद्धा और विश्वास की उत्पत्ति होगी। सदैव और सभी अवस्थाओं में मन, वचन और कर्म से पवित्र रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अपवित्र कल्पना उतनी ही बुरी है, जितना अपवित्र कार्य। **ब्रह्मचारी को मन, वाणी और कर्म से शुद्ध रहना चाहिए।**[8]

मेरे विचार के अनुसार शिक्षा का अर्थ है– 'गुरूगृह–वास'। शिक्षक अर्थात् गुरू के व्यक्तिगत जीवन के बिना कोई शिक्षा नहीं हो सकती। शिष्य को बाल्यावस्था से ऐसे व्यक्ति (गुरू) के साथ रहना चाहिए, जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो, जिससे उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने रहे। हमारे देश में ज्ञान का दान सदा त्यागी पुरूषों द्वारा ही होता आया है। ज्ञानदान का भार पुनः त्यागियों के कन्धों पर पड़ना चाहिए।

शिष्य और गुरू दोनों के लिए कुछ आवश्यक नियम हैं। शिष्य के लिए आवश्यकता है शुद्धता, ज्ञान की सच्ची पिपासा और लगन के साथ परिश्रम की। विचार, वाणी और कार्य की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। ज्ञान–पिपासा के सम्बन्ध में पुराना नियम यह है कि हम जो कुछ चाहते हैं, वही पाते हैं। जिस वस्तु की हम अन्तःकरण से चाह नहीं करते, वह हमें प्राप्त नहीं होती। हमें तो अपनी पाशविक प्रकृति के साथ निरन्तर जूझे रहना होगा, सतत युद्ध करना होगा और उसे अपने वश में लाने के लिए

अविराम प्रयत्न करना होगा। कब तक? जब तक हमारे हृदय में उच्चतर आदर्श के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाए, जब तक विजय–श्री हमारे हाथ न लग जाए। जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ लग जाता है, उसकी अन्त में सफलता–प्राप्ति निश्चित है।[9]

इसी प्रकार से शिक्षक के तीन विशिष्ट गुण बताये गये हैं। गुरू के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें शास्त्रों का मर्म ज्ञात हो। वैसे तो सारा संसार ही बाइबिल, वेद और कुरान पढ़ता है; पर वे तो केवल शब्दराशि है, धर्म की सूखी ठठरी मात्र हैं। जो गुरू शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं, जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वे भीतर का मर्म खो बैठते हैं। जो शास्त्रों के वास्तविक मर्मज्ञ हैं, वे ही असल में सच्चे धार्मिक गुरू हैं।

गुरू के लिए दूसरी आवश्यक बात है– निष्पापता। बहुधा प्रश्न पूछा जाता है, ''हम गुरू के चरित्र और व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दे?'' यह ठीक नहीं है। अपने तई आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करने और दूसरों में उसका संचार करने का एकमात्र उपाय है– हृदय और मन की पवित्रता। गुरू को पूर्ण रूप से शुद्धचित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा। वास्तव में गुरू का काम ही यह है कि वे शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर दें, न कि शिष्य की बुद्धिवृत्ति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करें। यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि गुरू से शिष्य मे सचमुच एक शक्ति आ रही है। अतः गुरू का शुद्धचित्त होना आवश्यक है।

तीसरी आवश्यक बात है उद्देश्य के सम्बन्ध में। गुरू को धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ–सिद्ध के हेतु धर्म–शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो सारी मानव–जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हो। आध्यात्मिक शक्ति का संचार केवल शुद्ध प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण भाव, जैसे कि लाभ अथवा यश की इच्छा, तत्काल ही इस प्रेमरूपी माध्यम को नष्ट कर देगा।[10]

गुरू को शिष्य की प्रवृत्ति में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। सच्ची सहानुभूति के बिना हम अच्छी शिक्षा कभी नहीं दे सकते। सच्चा गुरू वह है, जो अपने को तुरन्त शिष्य की सतह तक नीचे ला सकता है और अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है तथा शिष्य के मन द्वारा देख और समझ सकता है। ऐसा ही गुरू यथार्थ में शिक्षा दे सकता हे, दूसरा नहीं।

स्वामी ने शिक्षण प्रक्रिया में गुरू और शिष्य दोनों का योग्य एवं कुशल होना बताया है। गुरू द्वारा प्रदत्त ज्ञान को समझने की योग्यता और उसे धारण करने की क्षमता शिष्य में होना चाहिए। अन्यथा गुरू द्वारा दी गयी शिक्षा की क्या उपयोगिता होगी। शिक्षण के दौरान शिष्य को अधिक चैतन्य और जागरूक रहना चाहिए, तभी वह ज्ञान ग्रहण कर सकता है। स्वामी जी ने सच्चे शिष्य की अधोलिखित विशेषताओं की ओर संकेत किया है[11]–

1– ब्रह्मचर्य का ठीक–ठीक पालन कर सकने पर सभी विद्याएं क्षण भर में याद हो जाती है।

2– शिष्य में सत्य को जानने की इच्छा होनी चाहिए। उसे ईश्वर सत्य, जगत मिथ्या के सिद्धान्त में विश्वास करना चाहिए।

3– अच्छे शिष्य की तीसरी विशेषता उसमें महान सहनशक्ति तथा धैर्य का होना है, क्योंकि यह संसार शुभ–अशुभ का योग है।

4– गुरू के प्रति विश्वास, नम्रता, श्रद्धा तथा सहानुभूति की भावना होनी चाहिए।

5– शिष्य को मन से, वाणी से तथा कर्म से पवित्र होना चाहिए।

6– ईश्वर ही सत्य है, एक श्रेष्ठ विद्यार्थी को अपने को आत्मा मानकर चलना चाहिए क्योंकि आत्मा ही परमात्मा का अंश है, जो समस्त प्राणियों में विद्यमान है।

7– सतत परिश्रम करना चाहिए, जब तक कि विजयश्री हाथ न लग जाय जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ लग जाता है, उसकी अन्त में सफलता निश्चित है।

सन्दर्भ

1– गुप्त, लक्ष्मी नारायण : महान भारतीय शिक्षाशास्त्री, पृ0सं0 263 कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972।

2– मिश्र, एस0एस0, स्वामी विवेकानन्द शिक्षा–दर्शन, पृ0सं0 19–21, शारदा पुस्तक भवन यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद–2011

3– प्रसाद, आशा : स्वामी विवेकानन्द, एक जीवनी पृष्ठ सं0 32, सिंधु पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

4– स्वामी विवेकानन्द, मेरे गुरूदेव, पृ.0सं0 41, श्रीराम कृष्ण आश्रम, धन्तोली नागपुर, 1966

5– पाण्डेय, आशुतोष तथा शिवमोहन : राष्ट्रीय शिक्षा धारा के अन्तर्गत, पृष्ठ सं0 44, अग्रवाल प्रेस, शिवचरण लाल रोड, इलाहाबाद, 1980

6– स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, पृ0सं0 1–3, रामकृष्ण आश्रम मार्ग धन्तोली, नागपुर–2012।

7– वही, पृ0सं0–7।

8– नाथ, स्वामी भास्करेश्वर : विवेकानन्द राष्ट्र को आहवान, पृष्ठ सं0 7, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975

9– वही पृष्ठ सं0 12

10– चौबे, सरयू प्रसाद : भारतीय पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री पृष्ठभूमि, पृष्ठ सं0 211, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, 1986

11– पाण्डेय, रामशकल : शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि पृष्ठ सं0 211, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, 1986